ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. No.- 121-127

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

भारतीय राज्य की प्रकृति : उदारवादी, मार्क्सवादी और गाँधीवादी उपागम

डॉ0 धनंजय झा

एम.ए., पी एच.डी. (राजनीति विज्ञान) एम.एड., यूजीसी (नेट) (बिहार), भारत

Received-23.05.2024, Revised-30.05.2024, Accepted-04.06.2024 E-mail: dhananjayjha502@gmail.com

सारांश: *राज्य की अवधारणा राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन का एक केंद्रीय विषय है। सामान्य भाषा में राज्य को एक ऐसी संस्था के रूप में समझा जा सकता है, जिसका मूल कर्तव्य समाज में कानून व व्यवस्था बनाए रखना है तथा इसका बल प्रयोग के साधनों पर एकाधिकार स्थापित होता है। किसी भी राज्य की प्रकृति व स्वरूप को समझने के लिए इसकी संस्थात्मक संरचना और व्यवस्था का विश्लेषण करना नितांत आवश्यक हो जाता है। उदारवादी विचारक राज्य को एक कृत्रिम संस्था अर्थात् मानव निर्मित संस्था मानते हैं जिसका उदय व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा और उनके जीवन को खुशहाल बनाने के लिए हुआ है। कार्ल मार्क्स और एंगेल्स को समाज विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्सवादी दर्शन का जनक माना जाता है। मार्क्सवादी विचारक राज्य का आलोचनात्मक विश्लेषण आर्थिक संदर्भों में करते हैं। ये वर्गीय आर्थिक वर्ग संबंध मॉडल को राज्य की प्रकृति को समझने का महत्त्वपूर्ण तरीका मानते हैं। राज्य के गाँधीवादी दृष्टिकोण का उद्भव महात्मा गाँधी के विचारों का परिणाम है। हालांकि यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि गाँधी राज्य को एक पश्चिमी अवधारणा मानते थे, जिसे भारत में ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू किया गया था। गाँधी राज्य की अवधारणा के विपरीत स्वराज की अवधारणा पर बल देते थे जो कि एक विस्तृत विचार है। उन्होंने स्वराज को आत्मशासन अर्थात् स्वयं का शासन या ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण से मुक्ति, ग्रामों का संघ, गरीबों का स्वराज, आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था अर्थात् अपनी जरूरतों को अपने आप ही पूरा करना आदि अनेक पहलुओं से जोड़ा है। गाँधी एक राज्यविहीन समाज की स्थापना पर बल देते हैं, हालांकि वह इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित थे कि इस प्रकार के समाज की स्थापना संभव नहीं है। गाँधी एक ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं, जो कि राम–राज्य के मूल्यों पर आधारित हो। इस राम–राज्य में राजनैतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं हैं और न ही राज्य*

कुंजीभूत शब्द– राज्य, प्रकृति, उपागम, प्रभुत्वशाली वर्ग तथा विकेन्द्रीकरण, संस्थात्मक संरचना,उदारवादी विचारक, कृत्रिम संस्था।

अध्ययन का उद्देश्य :–

- राज्य की अवधारणा की मूलभूत समझ विकसित करने के उद्देश्य से इस अवधारणा के विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओ का अध्ययन करना।
- उदारवादी उपागम से भारतीय राज्य की प्रकृति तथा राज्य व समाज के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्तर पर होने वाली परस्पर क्रियाओं का विश्लेषण करना।
- उदारवादी दृष्टिकोण से राज्य की संस्थाओं और प्रक्रियाओं के विश्लेषण से राज्य और राजनैतिक शक्ति को समझने का प्रयास करना।
- मार्क्सवादी उपागम से भारतीय राज्य की प्रकृति तथा राज्य व समाज के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्तर पर होने वाली परस्पर क्रियाओं का विश्लेषण करना।
- गाँधीवादी उपागम से भारतीय राज्य के स्वरूप का अध्ययन करना।
- इस शोध–सारांश का मुख्य उद्देश्य उदारवादी, मार्क्सवादी और गाँधी उपागमों से उत्तर–औपनिवेशिक भारतीय राज्य की प्रकृति का विश्लेषण करना।

शोध–पद्धति– इस शोध–आलेख में विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है।

भूमिका– राज्य एक विस्तृत अवधारणा है और इसके प्रकार भी अनेक हैं। न्यूनतम राज्य की वकालत पारंपरिक उदारवादी विचारक करते हैं, जिसके अंतर्गत राज्य का मुख्य कर्तव्य नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करनां, उन्हें अधिकतम स्वंत्रतता देना तथा समाज में शांति और न्याय व्यवस्था बनाए रखना था। इसके अलावा, मार्क्सवादी विचारक राज्य के एक अन्य चरित्र को परिभाषित करते हैं। वह पूंजीपति राज्य की अवधारणा का उल्लेख करते हैं जिसके अंतर्गत राज्य पूंजीपति वर्ग के यंत्र के रूप में कार्य करता है, अर्थात् राज्य अपनी राजनीतिक शक्ति और संस्थाओं का उपयोग पूंजीपतियों के हितों की पूर्ति और गरीबों के दमन के लिए करता है।

उत्तर–औपनिवेशिक भारतीय राज्य की प्रकृति से संबंधित उदारवादी उपागम भारतीय राज्य के उदारवादी लोकतांत्रिक चरित्र को उजागर करता है। इस उपागम को हम दो भागों में बांट सकते हैं। पहला, उदारबादी–आधुनिक उपागम और दूसरा, राजनीतिक–अर्थशास्त्र उपागम। पारंपरिक मार्क्सवादी चिंतकों के मतानुसार, राज्य समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों के हाथों की कठपुतली है और राज्य अपनी संस्थाओं व सत्ता का उपयोग शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए करता है। पार्रपरिक मार्क्सवादी एंगेल्स का मत है कि राज्य एक ऐसा यंत्र है, जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करता है दूसरे शब्दों में, जो वर्ग समाज में आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली होता है, वही वर्ग राजनीतिक रूप से भी शक्तिशाली होता है तथा वह राज्य की दमनकारी शक्तियों का इस्तेमाल समाज के कमजोर वर्गों के शोषण और दमन के लिए करता है। भारत के संदर्भ में, मार्क्सवादी विद्वानों का मानना है कि राज्य अपनी राजनीतिक शक्ति और संस्थाओं के माध्यम से पूंजीपति व प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों को प्रोत्साहन और संरक्षण देता है। सर्वप्रथम जिन चिंतकों ने भारतीय राज्य की प्रकृति को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया, उनमें कल्पना विल्सन का योगदान काफी अहम है।

अनुरूपी लेखक / संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

विल्सन ने अपने अध्ययन में यह दिखाया है कि किस प्रकार राज्य ने भारत में पूंजीवाद के विकास को गति प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

गाँधीजी के अनुसार, राज्य एक साध्य नहीं है, बल्कि कुशल जीवन की प्राप्ति का साधन है। गाँधी राज्य को किसी भी परिस्थिति में असीमित शक्ति और प्रभुसत्ता देने के पक्ष में नहीं थे, बल्कि वह एक सीमित राज्य की वकालत करते थे। अर्थात् राज्य के पास सीमित शक्तियां होनी चाहिए, क्योंकि वह समय के विकास के साथ एक निरंकुश और दमनकारी संस्था के रूप में परिवर्तित हो सकता है। गाँधी के अनुसार, राज्य का प्रमुख लक्ष्य समाज के अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण सुनिश्चित करना है। इसके अलावा, गाँधी ने अपनी रचना हिन्द स्वराज में संसदीय लोकतंत्र की भरसक आलोचना भी की है। उनके अनुसार, संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री और संसदीय ताकतें सिर्फ अपने ही संकीर्ण हितों की पूर्ति में व्यस्त रहती हैं और जन–कल्याण की अवेहलना करती है।

राज्यः अवधारणात्मक अनुशीलन– समाज–विज्ञान के क्षेत्र में राज्य एक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय अवधारणा है। 18वीं सदी से ही अनेक राजनैतिक विचारकों, ने अपनी–अपनी परिकल्पना या धारणा के अनुसार राज्य शब्द को भिन्न–भिन्न संदर्भों में परिभाषित करने का प्रयास किया है। परंतु फिर भी राज्य की कोई एक सर्वसम्मत परिभाषा नहीं है। राज्य को हम एक ऐसी राजनीतिक संस्था के रूप में समझ सकते हैं जिसकी किसी एक निश्चित भू–भाग पर प्रभुसत्ता स्थापित होती है और वह अपनी स्थायी संस्थाओं के माध्यम से सत्ता का उपभोग करती है। आमतौर पर इन संस्थाओं को सार्वजनिक संस्था की संज्ञा दी जाती है और ये समाज को सामूहिक रूप से संगठित करने के लिए जिम्मेदार होती हैं।

जब हम राज्य के आवश्यक तत्त्वों की चर्चा करते हैं, तो मुख्य रूप से पांच तत्त्वों की ओर हमारा ध्यान जाता है। पहला, राज्य बिना किसी सीमा और हस्तक्षेप के प्रभुसत्ता का उपयोग पूर्ण स्वंत्रतता से समाज के सभी वर्गों और समुदायों पर करता है। इस संदर्भ में, थॉमस हॉब्स राज्य की तुलना एक दानव से करते हैं, जिसके पास अपार मात्रा में शक्तियां हैं। दूसरा, राज्य की संस्थाओं का स्वरूप निजी संस्थाओं के विपरीत सार्वजनिक होता है तथा ये राजनैतिक संस्थाएं ही समाज के सामूहिक हित को ध्यान में रखते हुए नीतियों के निर्माण के लिए जिम्मेदार होती हैं और जनता के ही पैसे से कार्य करती हैं। तीसरा, राज्य एक वैध संस्था होती है और इसके निर्णय समाज पर बाध्यकारी होते हैं। यह भी माना जाता है कि राज्य समाज के स्थायी हित को परिलक्षित करता है। चौथा, राज्य बल प्रयोग की शक्ति से भी युक्त होता है, जिसका प्रयोग समाज में न्याय व्यवस्था और शांति बनाए रखने के लिए किया जाता है। इस संदर्भ में, मैक्स वेबर कहते हैं कि राज्य का वैध हिंसा के साधनों पर एकाधिकार होता है। पाँचवां, राज्य एक प्रादेशिक संस्था भी है जिसकी भौगोलिक दृष्टि से निर्धारित सीमाएँ होती हैं और इन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी दर्जा प्राप्त होता है, अर्थात् राज्य एक निश्चित भू–भाग पर अपना शासन स्थापित करता है।[1](हेवुड : 2005, पृ. 39) इस प्रकार पाँच तत्व इस प्रकार हैं : प्रभुसत्ता, सार्वजनिक संस्थाएं, वैधता, बलयुक्त शक्ति और निश्चित भू–भाग।

राज्य एक विस्तृत अवधारणा है और इसके प्रकार भी अनेक हैं। न्यूनतम राज्य की वकालत पांरपरिक उदारवादी विचारक करते हैं, जिसके अंतर्गत राज्य का मुख्य कर्तव्य नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करनां, उन्हें अधिकतम स्वंत्रतता देना तथा समाज में शांति और न्याय व्यवस्था बनाए रखना था। दूसरी ओर, विकासात्मक राज्य की अवधारणा का उदय जापान और पूर्वी एशियाई देशों में हुआ है जिसके तहत राज्य और मुख्य आर्थिक कर्ताओं के मध्य एक अटूट रिश्ता देखने को मिलता है। साथ ही, राज्य राष्ट्रीय समृद्धि के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए महत्त्वपूर्ण नीतियों का विकास करता है। वहीं सामाजिक–लोकतांत्रिक राज्य जो कि आधुनिक उदारवाद और समाजवाद का एक अहम मूल्य है–विकास को बढ़ावा, गरीबी और बेरोजगारी को समाप्त करने तथा सामाजिक संसाधनों का न्यायसंगत तरीके से वितरण करने के उद्देश्य से आर्थिक और सामाजिक जीवन में काफी हस्तक्षेप करता है।[2] (हेवुडः 2005 पृ. 40) इसके विपरीत, सत्तावादी राज्य की स्थापना हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन, सद्याम हुसैन जैसे तानाशाही शासकों ने की थी, जिसके अंतर्गत राज्य अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधनों का उपयोग जमकर करता था तथा व्यक्तिगत जीवन के सभी पहलुओं में हस्तक्षेप करता था। इसके अलावा, मार्क्सवादी विचारक राज्य के एक अन्य चरित्र को परिभाषित करते हैं। वह पूंजीपति राज्य की अवधारणा का उल्लेख करते हैं, जिसके अंतर्गत राज्य पूंजीपति वर्ग के यंत्र के रूप में कार्य करता है, अर्थात् राज्य अपनी राजनीतिक शक्ति और संस्थाओं का उपयोग पूंजीपतियों के हितों की पूर्ति और गरीबों के दमन के लिए करता है।

भारतीय राज्य की प्रकृति– 1950 के दशक में भारतीय राज्य की स्थापना एक स्वंतत्र, संप्रभु व लोकतांत्रिक राज्य के रूप में हुई, जिसकी बनावट में उपनिवेशवादी समयकाल और राष्ट्रीय आंदोलनों ने अहम भूमिका निभाई है। स्वंतत्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही कई विद्वानों ने विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोणों के माध्यम से भारतीय राज्य की प्रकृति व स्वरूप के अध्ययन कां प्रयास किया, परंतु विभिन्न दृष्टिकोणों में राज्य की प्रकृति का वर्णन करने हेतु कोई भी सहमति नहीं है। साथ ही, किसी भी एक उपागम व सैद्धांतिक मॉडल से राज्य की प्रकृति का विश्लेषण पूर्ण अर्थों में करना काफी जटिल कार्य है।

भारतीय राज्य की प्रकृति : उदारवादी उपागम– उदारवादी विचारक राज्य को एक कृत्रिम संस्था अर्थात् मानव निर्मित संस्था मानते हैं, जिसका उदय व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा और उनके जीवन को खुशहाल बनाने के लिए हुआ है। पारंपरिक उदारवादी चिंतक अहस्तक्षेपकारी राज्य की अवधारणा पर बल देते थे, जिसके अनुसार राज्य का यह दायित्व था कि वह व्यक्ति के निजी जीवन अर्थात् घरेलू संबंधों, परिवार आदि और सार्वजनिक जीवन अर्थात् बाजार आदि की सुरक्षा पूर्ण रूप से करे, परंतु इन दोनों व्यक्तिगत जीवनों में कम–से–कम हस्तक्षेप करे। इसके विपरीत, जे. एम. कीन्स जैसे नव–उदारवादी विचारकों ने कुछ सीमाओं के साथ व्यक्तिगत जीवन और बाजार में राज्य के हस्तक्षेप करने के अधिकार पर बल दिया। उन्होंने राज्य को एक सकारात्मक संस्था माना तथा इसे बाजार और

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

व्यक्तिगत जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल करने के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में देखा। इस प्रकार, नव–उदारवादी विचारकों ने पारंपरिक उदारवादियों के अहस्तक्षेपकारी राज्य के सिद्धांत को परिवर्तित कर दिया।[3] (कुमार : 2013, पृ. 8–13)

उत्तर–औपनिवेशिक भारतीय राज्य की प्रकृति से संबंधित उदारवादी उपागम भारतीय राज्य के उदारवादी लोकतांत्रिक चरित्र को उजागर करता है। इस उपागम को हम दो भागों में बांट सकते हैं। पहला, उदारबादी–आधुनिक उपागम और दूसरा, राजनीतिक–अर्थशास्त्र उपागम।

उदारवादी–आधुनिक उपागम– सर्वप्रथम नार्मन पाल्मर और डब्लू. एच. मोरिस जोंस (1964) जैसे विद्वानों ने भारतीय राज्य के चरित्र को उदारवादी–आधुनिक उपागम की सहायता से सुव्यवस्थित ढंग से समझने का प्रयास किया। समाज विज्ञान के क्षेत्र में इस दृष्टिकोण को राजनीतिक–संस्थागत उपागम की संज्ञा भी दी जाती है। विभिन्न स्तरों पर आमूलचूल बदलाव लाने के संदर्भ में मुख्यतः मोरिस जोंस ने सामाजिक और आर्थिक बदलावों के संदर्भ में राजनैतिक संस्थाओं, विशेषकर एकदलीय प्रभुत्व और प्रतिनिधि संस्थाओं की क्षमता पर बल दिया है।[4] (हसन : 2002, पृ. 12) इनकी यह मान्यता थी कि "जैसे–जैसे उदारवादी लोकतांत्रिक संवैधानिक व्यवस्था और सार्वभौमिक मताधिकार का विकास होगा, वैसे–वैसे भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में तर्कसंगत प्रशासनिक, लोकतांत्रिक निर्णय–निर्माण प्रक्रिया और आधुनिक नागरिकता के मूल्यों के कदम जमते चले जाएंगे।[5] (चटर्जी : 2010, पृ. 4) पाल्मर और जोंस के अनुसार, "लोकतांत्रिक विचारधारा, आर्थिक विकास, वितरणात्मक न्याय की अवधारणा का सम्मिश्रण राज्य को परिवर्तन का केंद्रीय कर्ता स्थापित कर, पारंपरिक गैर–राजनैतिक समाज को बदलने का अनूठा अवसर प्रदान करता है।[6] (हसन : 2002, पृ. 12)

गुन्नार मिर्डल के अनुसार, आजादी के पश्चात् जिस भारतीय राज्य का उदय हुआ, वह एक 'मृदु राज्य' था क्योंकि इस राज्य के पास निहित स्वार्थों के विरुद्ध कार्यवाही करने हेतु आवश्यक क्षमता का अभाव था।[7] (हसन : 2002, पृ. 12) दूसरे शब्दों में, मृदु राज्य की अवधारणा को हम एक राज्य के रूप में समझ सकते हैं, जो अपनी लोक नीतियों और कार्यक्रमों को प्रभावशाली व निपुण रूप से कार्यान्वित करने में असमर्थ है तथा इस प्रकार के राज्य की सभी संस्थाओं और प्रक्रियाओं का उपयोग समाज के सत्ताधारी व शक्तिशाली वर्ग द्वारा अपने हितों कीपूर्ति के लिए किया जाता है।

आलोचकों के अनुसार, 1960 के दशक के पश्चात् उदारवादी– आधुनिक उपागम व राजनीतिक–संस्थागत उपागम–जो कि भारतीय राज्य की प्रकृति को समझने के संदर्भ में राज्य के संस्थागत व औपचारिक पहलुओं के अध्ययन पर बल देता है– भारतीय राज्य के बदलते हुए स्वरूप को परिभाषित करने की असमर्थतता ने दो नए दृष्टिकोणों को जन्म दिया। पहले दृष्टिकोण को समाज–केंद्रीकृत के नाम से जाना जाता है तथा दूसरे को राज्य–केंद्रीकृत के रूप में। सामाजिक परिवर्तन समाज–केंद्रीकृत उपागम की एक मुख्य विशेषता है। इस दृष्टिकोण ने 'राज्य की कार्यप्रणाली को समृद्धि – बढ़ावा देने के लिए जमींदारी प्रथा उन्मूलन, गरीबी हटाओ, मंडलीकरण और समाज के निचले तबके की लामबंदी जैसे सामाजिक परिवर्तन के साधनों की विविधता को उजागर किया।[8] (हसन : 2002, पृ. 13) हालांकि यह उपागम भारतीय राज्य की बदलती प्रकृति को विश्लेषित करने में असफल रहा, जिसके फलस्वरूप राज्य–केंद्रीकृत नामक दृष्टिकोण का विकास हुआ। समाज–केंद्रीकृत उपागम की असफलता का सबसे बड़ा कारण था कि इसने अपने अध्ययन–क्षेत्र को केवल समाज तक ही सीमित कर दिया। इसके विपरीत, राज्य–केंद्रीकृत दृष्टिकोण ने राज्य की स्वायत्तता को अधिक वरीयता दी है। राज्य की स्वायत्तता को महत्त्व देना इस उपागम का एक मुख्य पहलू है, अर्थात् राज्य–केद्रकृत उपागम, समाज–केंद्रीकृत उपागम के विपरीत, राजनीति को केवल सामाजिक आयामों तक सीमित नहीं करता।[9] (हसन : 2002, पृ. 13) इस उपागम के समर्थकों का मत है कि राज्य सभी प्रकार के निहित वर्गीय हितों से मुक्त होकर संपूर्ण समाज की भलाई व सामान्य हित के लिए प्रयत्नशील रहता है, न कि किसी विशेष वर्ग व समूह के एजेंट के रूप में कार्य करता है।

रुडहोल्फ और रुडोल्फ, जे. भगवती, टी. एन. श्रीनिवासन जैसे विचारकों ने राजनीतिक–अर्थव्यवस्था उपागम से भारतीय राज्य की प्रकृति का अध्ययन किया है। भारत के संदर्भ में, राजनीतिक–अर्थव्यवस्था उपागम अर्थव्यवस्था के विकास में राज्य की सक्रिय भूमिका के साथ–साथ इसकी आर्थिक सफलताओं और विफलताओं का भी गहन विश्लेषण करता है। आजादी के बाद से भारतीय राज्य ने केवल अर्थव्यवस्था की दिशा को निर्धारित नहीं किया, बल्कि इसकी प्रगति में भी एक केंद्रीय भूमिका निभाई। हालांकि अर्थव्यवस्था में राज्य की इस हस्तक्षेपवादी प्रवृत्ति के कुछ नकारात्मक परिणाम भी देखने को मिले। इस संदर्भ में, जे. भगवती और टी. एन. श्रीनिवासन का मत है भारतीय राज्य ने योजना के साथ–साथ आयात प्रतिस्थापन के माध्यम से आर्थिक विकास को तीव्र गति तो प्रदान की, पर इसके साथ ही भ्रष्टाचार, अकार्यकुशलता जैसी अनेक विकृतियों को भी जन्म दिया। आर्थिक योजना और औद्योगिक क्षमता को नियंत्रित करने के प्रावधानों ने राजनीतिज्ञों और प्रशासकों की शक्ति में कई गुना वृद्धि कर दी, जिसका उपयोग उन्होंने अपने निहित हितों की पूर्ति के लिए किया।[10] (हसन : 2002, पृ. 14)

इस उपागम के समर्थकों का यह भी मानना है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की समष्टिगत तस्वीर अन्य विकासशील देशों की तुलना में खराब नहीं रही है, पर व्यष्टिगत आयामों की दृष्टि से भारतीय राज्य की विफलताएँ चिंताजनक हैं। यह स्थिति उस समय में भी थी, जब वणिज्य और उद्योग पर सरकारी नियंत्रण कड़े थे, और पब्लिक सेक्टर की जबरदस्त अहमियत थी। अस्सी के दशक से धीरे–धीरे और नब्बें के दशक में तेजी से हटे नियंत्रणों, बाजारोन्मुख नीतियों के वर्चस्व और पब्लिक सेक्टर के विनिवेशीकरण के बावजूद अर्थव्यवस्था का यह विरोधाभास खत्म नहीं हुआ।[11] (दूबे : 2013, पृ. 1568)

आजादी के पश्चात् भारतीय आर्थिक विकास का लाभ मुख्य रूप से बड़े और मंझोले व्यापारिक घरानों, बड़े और मंझोले किसानों, वेतन भोगी वर्ग के ऊपरी समूह और मजदूर वर्ग के संगठित हिस्से की ऊपरी परत को हुआ है। यही लोग मिल कर भारतीय

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

अभिजन वर्ग की रचना करते हैं। दूसरी तरफ, नेशनल सैंपल सर्वे के आकड़ों के अनुसार, 1991 में आर्थिक सुधार शुरू होने के समय देश के आधे से ज्यादा घर–परिवारों के पास महज पचास हजार रुपये से ज्यादा की संपत्तियां थी। गाँव में केवल दस प्रतिशत और शहर में केवल चौदह प्रतिशत घर ऐसे थे, जिनके पास ढाई लाख से ज्यादा की संपत्तियां पाई गई थीं।[12] (दूबे : 2013, पृ. 1568) दूसरे शब्दों में, 1947 के बाद कभी घट और बढ़ रही आर्थिक विकास दर का लाभ समाज के सभी लोगों तक नहीं पहुंचा। देश का एक बड़ा हिस्सा आजादी के अनेक वर्षों के बाद भी अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में असमर्थ था। हालांकि भारतीय राज्य ने गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण, अशिक्षा आदि समस्याओं को सुलझाने की दिशा में अनेक नीतियों को लागू किया, परंतु उन नीतियों के परिणाम अपेक्षा के अनुरूप नहीं निकले।

राज्य की समाज के एक बडे हिस्से को बुनियादी सेवाएं उपलब्ध न कर पाने और अपनी ही कल्याणकारी नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू न कर पाने की निरतंर अक्षमता ने पब्लिक सेक्टर की कार्यकुशलता, प्रबंधन और उपयोगिता पर एक बड़ा सवालिया–निशान लगा दिया। साथ ही, इस तर्क को भी बल दिया कि राज्य को स्वास्थ्य, शिक्षा, यातायात, आवास जैसी आधारभूत सेवाओं का प्रबंधन निजी क्षेत्र को सौंप देना चहिए, भले ही इन सेवाओं में निवेश के बोझ का वहन राज्य को करना पड़े।[13] (दूबे : 2013, पृ. 1568) इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक–अर्थव्यवस्था उपागम हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था खराब गवर्नेंस, भ्रष्टाचार, दिशाहीन नीतियों, प्रशासनिक तानाशाही आदि के कारण सामाजिक कल्याण से जुड़े अपने लक्ष्य को पूर्ण रूप से पाने में असफल रही और साथ ही, अल्पविकास से भी ग्रस्त रही। अगले भाग में हम उत्तर–औपनिवेशिक भारतीय राज्य की प्रकृति का विश्लेषण मार्क्सवादी उपागम की सहायता से करेंगे।

भारतीय राजनीति की प्रकृतिः मार्क्सवादी उपागम– कार्ल मार्क्स और एंगेल्स को समाज विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्सवादी दर्शन का जनक माना जाता है। मार्क्सवादी विचारक राज्य का आलोचनात्मक विश्लेषण आर्थिक संदर्भों में करते हैं। ये वर्गीय आर्थिक वर्ग संबंध मॉडल को राज्य की प्रकृति को समझने का महत्त्वपूर्ण तरीका मानते हैं। पारंपरिक मार्क्सवादी चिंतकों के मतानुसार, राज्य समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों के हाथों की कठपुतली है और राज्य अपनी संस्थाओं व सत्ता का उपयोग शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए करता है। पार्रपरिक मार्क्सवादी एंगेल्स का मत है कि राज्य एक ऐसा यंत्र है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करता है दूसरे शब्दों में, जो वर्ग समाज में आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली होता है, वही वर्ग राजनीतिक रूप से भी शक्तिशाली होता है तथा वह राज्य की दमनकारी शक्तियों का इस्तेमाल समाज के कमजोर वर्गों के शोषण और दमन के लिए करता है।[14] (कुमार : 2013, पृ. 14) परंतु नव–मार्क्सवादी चिंतक पारंपरिक मार्क्सवादियों क्री आलोचना करते हुए कहते हैं कि राज्य पूंजीपति वर्ग के हितों को पूरा करने का यंत्र पान्न नहीं है, बल्कि अनेक अवसरों पर राज्य पूंजीपति वर्ग के हितों से स्वायत्त होकर भी अपने कार्यों का संचालन करता है। इसके अलावा, नव–मार्क्सवादियों का मत है कि राज्य समाज पर पूंजीपति वर्गों के अधिपत्य को स्थापित करने हेतु सिर्फ बल का ही उपयोग नहीं करता है बल्कि शिक्षा, राजनीति व्यवस्था, मीडिया जैसे वैचारिक साधनों का भी इस्तेमाल करता है।[15] (कुमार : 2013, पृ. 13–19)

भारत के संदर्भ में, मार्क्सवादी विद्वानों का मानना है कि राज्य अपनी राजनीतिक शक्ति और संस्थाओं के माध्यम से पूंजीपति व प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों को प्रोत्साहन और संरक्षण देता है। सर्वप्रथम जिन चिंतकों ने भारतीय राज्य की प्रकृति को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया, उनमें कल्पना विल्सन का योगदान काफी अहम है। विल्सन ने अपने अध्ययन में यह दिखाया है कि किस प्रकार राज्य ने भारत में पूंजीवाद के विकास को गति प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इनके अनुसार, सरकार के सार्वजनिक क्षेत्र ने, निजी क्षेत्र के विकास हेतु न केवल आवश्यक आधारिक संरचना का विकास किया, बल्कि उन सभी क्षेत्रों को भी अपने पास रखा जोकि निजी क्षेत्रों के निवेश की दृष्टि से जोखिमपूर्ण थे। इस प्रकार, आजादी के आरंभिक वर्षों में राज्य द्वारा किए जाने वाले निवेश का ध्येय भारत में पूंजीवाद के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना था।[16] (कुरियन : 1975, पृ. 95) दूसरे शब्दों में, पश्चिमी देशों के विपरीत भारत में पूंजीवाद के आविर्भाव और प्रसार का जिम्मा राज्य पर था।

विल्सन का यह भी मत है कि स्वंतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी भारत की एक बड़ी आबादी का रहन–सहन और जीवन स्तर लगातार गिरता जा रहा था, क्योंकि राज्य ने अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा देश में औद्योगिक पूंजीवाद के विकास के लिए आवश्यक वातावरण के निर्माण के लिए समर्पित कर दिया था। जहां एक तरफ, राज्य पूंजीपति वर्ग के हितों की पूर्ति करने की दिशा में भरसक प्रयास कर रहा था, वहीं दूसरी ओर, राज्य समाज के अधीनस्थ व कमजोर वर्गों (जैसे गरीब किसान, भूमिहीन मजदूर आदि) को जीवन जीने के लिए अनिवार्य आधारभूत आवश्यकताओं की उपलब्धता सुनिश्चित कर पाने में भी असमर्थ था।[17] (कुरियन : 1975, पृ. 260–61)इस प्रकार, राज्य का समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति भिन्न–भिन्न व्यवहार इसकी पूंजीवादी प्र.ति को उजागर करता है। इसके अलावा, विल्सन का यह भी मानना है कि द्वाज्य ने समय–समय पर होने वाले 'किसान आंदोलनों और मजदूर संघर्षों' को हिंसात्मक तरीके से पूर्णतः कुचल दिया तथा राज्य की दमनकारी शक्ति में कई गुना आकस्मिक वृद्धि हुई। समाज पर राज्य की शक्ति बनाए रखने में "सत्तावादी" राज्य के विचार ने अहम भूमिका अदा की।[18] (कुरियन : 1975, पृ. 95) इस प्रकार, मार्क्सवादी विचारक भारतीय राज्य को एक जनविरोधी वर्गों के एजेंट के रूप में परिभाषित करते हैं जोकि सरकारी ताकत व तंत्र का इस्तेमाल पूंजीपतियों के हितों की पूर्ति के लिए दमनकारी ढंग से करता है।[19] (दूबे : 2013, पृ. 1234)

दूसरे शब्दों में, पश्चिमी समाज में राज्य का वर्गीय स्वरूप एकरूपक है, जिसके तहत राज्य की संस्थाओं और स्रोतों पर केवल एक ही पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व स्थापित होता है। इसके विपरीत, भारतीय राज्य पर किसी एक पूंजीपति वर्ग का अधिपत्य न होकर,

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

मुख्यतः घरेलू बुर्जुआ (उद्योगपति वर्ग), जमींदार और विदेशी उद्योगपति जैसे पूंजीपति वर्गों का प्रभुत्व स्थापित है।[20] (कुरियन : 1975, पृ. 110) इस तरह यह सभी वर्ग अपने हितों की पूर्ति हेतु भारतीय राज्य को एक यंत्र की भांति इस्तेमाल करते हैं। इसके साथ ही, अल्थूजर के 'राज्य के वैचारिक उपकरण' के सिद्धांत से प्रभावित होकर, कुरियन ने अपने अध्ययन में यह दिखाया है कि किस प्रकार राज्य अपने बलयुक्त साधनों के साथ–साथ गैर–बलयुक्त साधनों जैसे प्रशासनिक व्यवस्था, शिक्षा, विचारधारा और साहित्यिक सामग्री आदि के द्वारा आम जनता पर पूंजीपति वर्गों के प्रभुत्व को बनाए रखता है।[21] (कुरियन : 1975, पृ. 112)

नव–मार्क्सवादी विचारक हम्जा अलावी के मतानुसार स्वतंत्र भारत में राज्य 'महानगरीय बुर्जुआ, घरेलू बुर्जुआ और जमीददार वर्ग जैसे तीन पूंजीपति व संपत्तिशाली वर्गों के आपसी टकरावपूर्ण हितों के बीच एक मध्यस्थ की भूमिका निभाता है तथा साथ ही, उनकी तरफ से कार्यरत होते हुए राज्य एक ऐसी सामाजिक स्थिति को बनाए रखता हे ताकि दीर्घकाल में वह उनके हितों को बढावा दे सके। इसके साथ ही, घरेलू बुर्जुआ द्वारा राज्य पर अधिपत्य स्थापित न कर पाने की निर्बलता के कारण ही भारतीय राज्य सापेक्षिक रूप से स्वायत्त रहकर कार्य करता है।'[22] (अलावी : 1975)

सुदीप्ता कविराज भारतीय राज्य का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करते हुए कुछ नए तथ्यों को उजागर करते हैं। इनके अनुसार, भारतीय पूंजीपति वर्गों का आपस में एक गठबंधन है, तॉकि सभी पूंजीपति वर्ग बिना किसी टकराव व संघर्ष के अपने हितों की पूर्ति कर सकें। ये पूंजीपति वर्ग इसी गठबंधन रणनीति का उपयोग कर राज्य पर अपने अधिपत्य को बनाए रखते हैं। कविराज की भांति पार्था चटर्जी का भी यही मानना है कि स्वंतत्रता के बाद से ही पूंजीपति वर्गों का एक आपसी गठबंधन है, क्योंकि पश्चिमी देशों के विपरीत भारत में पूंजीपति वर्गों का चरित्र विजातीय (विविध) है। इसी कारण राज्य पर अपने नियंत्रण को स्थापित करने की दृष्टि से उद्योगपति वर्ग को अपनी शक्ति को जमींदारों के साथ बांटना पड़ा। राज्य पर अधिपत्य स्थापित करने की इस गठबंधन रणनीति को प्रभुत्वशाली वर्ग गठबंधन मॉडल के नाम से समाज–विज्ञान के क्षेत्र में जाना जाता है।[23] (चटर्जी : 2012, पृ. 285)

इस प्रकार 'प्रभुत्वशाली वर्ग गठबंधन मॉडल' पूंजीपति वर्गों के विरोधी हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए, राज्य सापेक्षिक स्वायत्तता को प्राप्त कर लेता है, तॉकि वह इनके बीच के वर्ग संघर्ष को समाप्त कर सके।[24] (वर्धन : 1998, पृ. 54) अधिकतर नव–मार्क्सवादी विचारक जैसे– प्रभात पटनायक, प्रणव वर्द्धा आदि भारतीय राज्य और पूंजीपति वर्गों के मध्य स्थापित अंतर्संबंध को समझने हेतु 'प्रभुत्वशाली वर्ग गठबंधन मॉडल' का ही उपयोग करते हैं।

वहीं दूसरी ओर, अमित भादुरी और दीपक नय्यर अपने अध्ययन में राज्य के दोहरे स्वरूप को उजागर करते हैं। इनके मतानुसार, राज्य की प्रकृति के निर्धारण में एक तरफ समाज की प्रभुत्ववादी संरचना तथा दूसरी तरफ चुनावी लोकतंत्र की विवशता का अहम योगदान है, अर्थात् राज्य समाज के उन आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है जो कि राजनीतिक क्षेत्र में शासक वर्ग का भी निर्माण करते हैं। समाज में विद्यमान इन्हीं प्रभुत्वशाली वर्गों की उपस्थिति के कारण ही राज्य कभी इनके हितों के खिलाफ कठोर निर्णय नहीं ले पाता। जबकि राज्य वैधानिकता प्राप्त करने हेतु चुनावों के समय समांज के गरीब और पिछड़े वर्गों पर निर्भर रहता है।[25] (भादुरी और नैय्यर : 1996, पृ. 144–145) इस प्रकार राज्य सामान्यतः समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों के हितों पर बल देता है। यदि गौर से देखा जाए तो भारतीय राज्य से संबंधित मार्क्सवादी उपागम के अनुसार, राज्य का चरित्र वर्गीय है, जिसके तहत राज्य एवं इसकी संस्थाएं समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों का भरपुर ख्याल रखती हैं तथा इनके हितों के अनुकूल सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने हेतु राज्य जरूरत पड़ने पर बल प्रयोग और दमनकारी साधनों का उपयोग करने से भी पीछे नहीं हटता।

भारतीय राजनीति की प्रकृति : गाँधीवादी उपागम– राज्य के गाँधीवादी दृष्टिकोण का उद्भव महात्मा गाँधी के विचारों का परिणाम है। हालांकि यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि गाँधी राज्य को एक पश्चिमी अवधारणा मानते थे, जिसे भारत में ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू किया गया था। साथ ही, वह राज्य के विचार की भरसक आलोचना करते हैं, क्योंकि वह राज्य को एक हिंसात्मक संस्था मानते हैं, जिसका अस्तित्व हिंसा पर टिका है।

गाँधी राज्य की अवधारणा के विपरीत स्वराज की अवधारणा पर बल देते थे जो कि एक विस्तृत विचार है। उन्होंने स्वराज को आत्मशासन अर्थात् स्वयं का शासन या ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण से मुक्ति, ग्रामों का संघ, गरीबों का स्वराज, आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था अर्थात् अपनी जरूरतों को अपने आप ही पूरा करना आदि अनेक पहलुओं से जोड़ा है।

गाँधी एक राज्यविहीन समाज की स्थापना पर बल देते हैं, हालांकि वह इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित थे कि इस प्रकार के समाज की स्थापना संभव नहीं है। गाँधीजी के अनुसार, राज्य एक साध्य नहीं है, बल्कि कुशल जीवन की प्राप्ति का साधन है। गाँधी राज्य को किसी भी परिस्थिति में असीमित शक्ति और प्रभुसत्ता देने के पक्ष में नहीं थे, बल्कि वह एक सीमित राज्य की वकालत करते थे। अर्थात् राज्य के पास सीमित शक्तियां होनी चाहिए, क्योंकि वह समय के विकास के साथ एक निरंकुश और दमनकारी संस्था के रूप में परिवर्तित हो सकता है। गाँधी के अनुसार, राज्य का प्रमुख लक्ष्य समाज के अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण सुनिश्चित करना है। इसके अलावा, गाँधी ने अपनी रचना हिन्द स्वराज में संसदीय लोकतंत्र की भरसक आलोचना भी की है। उनके अनुसार, संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री और संसदीय ताकतें सिर्फ अपने ही संकीर्ण हितों की पूर्ति में व्यस्त रहती हैं और जन–कल्याण की अवेहलना करती है।

गाँधी एक ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं, जो कि राम–राज्य के मूल्यों पर आधारित हो। इस राम–राज्य में राजनैतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं हैं और न ही राज्य का।[26] (कुमार : 2004, प. 378) गाँधी के राम–राज्य को हम ऐसे राज्य के रूप में समझ

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

सकते है, जिसके अंतर्गत शासक और शासित दोनों का हृदय निर्मल हो, आत्म–बलिदान के लिए हमेशा तैयार हो, अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण हो तथा इनके बीच का संबंध पिता और पुत्र के समान हो।

गौरतलब है कि भारतीय संविधान की निर्माण–प्रक्रिया के दौरान जब संविधान सभा में यह प्रश्न उठा कि गाँधी के सपनों को पूरा करने की दिशा में स्वत्रंत भारत के संविधान में गाँधीजी के विचारों को किस हद तक स्थान दिया गया है। उस विचार–विमर्श के दौरान सभा में उपस्थित महावीर त्यागी ने इस बात को लेकर गहरा अफसोस जताया कि भारतीय संविधान में गाँधीवादी मूल्यों और सिद्धांतों को अहम स्थान नहीं दिया जा रहा है।[27] (गुहा : 2013, पृ. 109)

वहीं दूसरी ओर, संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अंबेडकर ने 1949 में भारतीय संविधान के अंतिम प्रारूप को संविधान सभा को सौंपते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की ओर संपूर्ण सभा का ध्यान आकर्षित किया। उनमें से एक कथन गाँधी से भी संबंधित था, जिसके अंतर्गत वह कहते हैं कि हमें नागरिक अवज्ञा, असहयोग, और सत्याग्रह जैसी गाँधीवादी विरोध पद्धतियों का बहिष्कार कर देना चाहिए। इन पद्धतियों का निरंकुश शासन व्यवस्था में तो कोई औचित्य हो सकता है, परंतु अब स्वतंत्र भारत में इन पद्धतियों की कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि संविधान में, निवारण अर्थात् समस्याओं के समाधान के अनेक साधन मौजूद हैं। डा. अंबेडकर का मत था कि सत्याग्रह जैसी पद्धतियां अराजकता की प्रतीक हैं और इनको जितना जल्दी छोड़ा जाएगा, उतना ही जल्दी हमारे लिया अच्छा होगा।[28] (गुहा : 2013, पृ. 121) हालांकि फिर भी संविधान–निर्माता गाँधीवादी विचारों और मूल्यों की पूर्ण रूप से अवहेलना नहीं कर पाए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 1950 में लागू हुए भारतीय संविधान के कुछ भागों पर गाँधी के विचारों का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है, विशेष रूप से, संविधान के भाग चार में अंकित राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांत पर। पहला, अनुच्छेद 40 के अनुसार, राज्य ग्राम पंचायतों के गठन लिए आवश्यक कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।

दूसरा, अनुच्छेद 43 में राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ग्रामों में कुटीर उद्योगों को व्यक्तिगत और सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगाँ तीसरा, अनुच्छेद 46 के अनुसार, राज्य समाज के अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजाति जैसे सभी पिछड़े वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देगा और साथ ही, उनकी सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से सुरक्षा करेगाँ चौथा, अनुच्छेद 47 में यह प्रबंध किया गया है कि राज्य लोगों के जीवन स्तर और पोषाहार को ऊंचा रखने हेतु मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक अन्य औषधियों के उपयोग का प्रतिरोध करने का प्रयास करेगाँ पांचवां, अनुच्छेद 48 के अनुसार, राज्य गायों और अंन्य वाहक पशुओं की नस्लों के संरक्षण के लिए उनके सुधार और वध को प्रतिषेध करने के लिए कदम उठाएगाँ इस तरह, ग्राम पंचायतों, कुटीर उद्योग, समाज के पिछड़े वर्गों के आर्थिक और शैक्षिक हितों को बढ़ावा, मदिरापान पर पाबंदी और गौ हत्या पर प्रतिबंध से जुड़े हुए प्रावधान गाँधी के विचारों की ही उपज हैं।

वहीं दूसरी ओर, संसद द्वारा 1992 में पारित 73वें और 74वें संवैधानिक संशोधन द्वारा पंचायतीराज संस्थाओं और नगरपालिकाओं को संविधान में ग्यारहवीं और बारहवीं अनुसूची के रूप में जोड़ा गया। सरकार ने इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देकर राजनीतिक सत्ता का विकेंद्रीकरण किया और स्थानीय स्तर पर लोगों को शासन में भागीदारी का अवसर दिया–जोकि लोकतंत्र का एक केंद्रीय मूल्य है। यह निश्चित रूप से गाँधीवादी विचारों का ही परिणाम था, क्योंकि वह सदैव शक्ति के अधिक–से–अधिक विकेंद्रीकरण पर बल देते थे। वहीं दूसरी ओर, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 2014 में गाँधी जयंती के अवसर पर स्वच्छ भारत अभियान की शुरूआत की। प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में गाँधी का उल्लेख करते हुए, कहा कि उनके मूल्य और विचार सदैव हमें अच्छा कार्य करने के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित करते रहेंगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि समय के विकास के साथ–साथ महात्मा गाँधी के विचार धूमिल नहीं हुए हैं, बल्कि उनकी प्रासंगिकता और अधिक बढ़ती जा रही है।

निष्कर्ष– इस शोध–आलेख में हमने भारतीय राज्य की प्रकृति का अध्ययन उदारवादी, मार्क्सवादी और गाँधीवादी उपागमों से करने का एक सूक्ष्म प्रयास किया है। जहाँ एक ओर उदारवादी विचारक राज्य को एक सकारात्मक संस्था के रूप देखते हैं वहीं दूसरी ओर मार्क्सवादी और गाँधीवादी दोनों ही अपने दर्शन के आधार पर राज्य की भरसक आलोचना करते हैं। उदारवादी विचारक भारतीय राज्य द्वारा सफलतापूर्वक लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की जमकर प्रशंसा करते हैं। साथ ही, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर मूलभूत बदलाव लाने में लोकतांत्रिक संस्थाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं की सकारात्मक और रचनात्मक भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। उदारवादी विचारकों के विपरीत, मार्क्सवादी विचारक राज्य के वर्ग चरित्र को प्रकाशित करते हैं, जहाँ राज्यपूंजीपति वर्ग के हितों को संरक्षण व बढ़ावा देता है। साथ ही, राज्य प्रभुत्वशाली वर्गों के हितों को पूरा करते हुए आवश्यकता पड़ने पर दमनकारी व हिंसात्मक साधनों का उपयोग भी करता है। वहीं, गाँधी तो राज्य को एक अराजकतावादी संस्था मानते थे, जो कि समाज में हिंसा को जन्म देता है। हालांकि स्वतंत्र भारत के संविधान के कुछ प्रावधानों पर गाँधीवादी विचारों का प्रभाव स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। साथ ही, समकालीन दौर में भी गाँधी के विचार देश की सरकार और राजनीति को प्रभावित करते दिखाई पड़ रहे हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हेवुड, एंड्रयू, (2005), पॉलिटिकल थ्योरी, थर्ड (सं.), न्यू यॉर्क, पालग्रेव मैकमिलन, पृ. 39.
2. उपरोक्त, पृ. 40.

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

3. कुमार, कमल (2013), स्टेट रिस्पॉन्सेज टू एनवायरन्मेंट मूवमेंट्स : ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ एंटी–डैम मूवमेंट्सइन इंडिया एण्ड चाइना, एम.फिल., यूनिवर्सिटी ऑफ देल्ही, पृ. 8–13.
4. हसन, जोया (सं.), (2002), पॉलिटिक्स एण्ड द स्टेट इन इंडिया, न्यू दिल्ली, सेज पब्लिकेशन, पृ. 12.
5. चटर्जी, पार्था (सं.) (2010), द स्टेट, इन गोपाल जयाल निरजा (सं.) द ऑक्सफोर्ड कम्पेनियन टू पॉलिटिक्स इन इंडिया, प्रथम एडिसन, न्यू दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 2–11
6. हसन, जोया (2002), पूर्वोक्त, पृ. 12.
7. उपरोक्त।
8. उपरोक्त।
9. उपरोक्त।
10. उपरोक्त।
11. दूबे, अभय कुमार, (सं.) (2013), सोशल साइन्स : ऐन इनसाइक्लोपेडिया, वॉल्यूम– ऽटप्ए न्यू दिलली, राजकमल, पृ. 1568.
12. उपरोक्त।
13. उपरोक्त, पृ0 1569.
14. कुमार, कमल (2013), पूर्वोक्त, पृ. 14.
15. उपरोक्त, पृ. 13–19.
16. कुरियन, के. मैथ्यू (सं.)(1975), इंडिया–स्टेट एण्ड सोसायटी : ए मार्क्सियन एप्रोच, न्यू दिल्ली, ओरियंट लौंगमैन, पृ. 95
17. उपरोक्त, पृ. 260–61.
18. उपरोक्त, पृ. 261.
19. दूबे, अभय कुमार (2013), पृ. 1234.
20. कुरियन, के. मैथ्यू (1975), पूर्वोक्त, पृ. 110
21. उपरोक्त, पृ0 112.
22. अलावी, हाम्जा (1975), इंडिया एण्ड द कोलोनियल मोड ऑफ प्रोडक्शन, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, वॉल्यूम–10, नं. 33/35, पृ. 1235–1262.
23. चटर्जी, पार्था, (2012), एन्जायटीज ऑफ डेमोक्रेसी : टॉक्यूविलियन रिलेक्शन ऑन इंडिया एण्ड यूनाइटेड स्टेट्स, न्यू दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 285.
24. बर्द्धन, अमित (सं.) (1998), द पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ डेवलपमेंट इन इंडिया : एक्सपैंडेड एडिशन विद ऐन एपिलग ऑन द पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ रिफॉर्म्स इन इंडिया, न्यू दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 54.
25. भादुरी, अमित (सं.) (1996), द इंटेलीजेंट पर्सन्स गाइड टू लिब्रेलाइजेशन, न्यू दिलली, पेंग्यून बुक्स, पृ. 144–145.
26. कुमार सतीश (2004), द कन्सेप्ट ऑफ स्टेट एण्ड डेमोक्रेसी इन गाँधीयन थॉट, द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साईस, वॉल्यूम–65, नं. 3, पृ. 377–382.
27. गूहा, रामचंद्रन (2013), गांधी : बिफोर इंडिया, न्यू दिल्ली, पेंग्यून बुक्स, पृ0 109.
28. उपरोक्त, पृ. 121.

*****